

अन्य दर्शनों में अनेकान्तवाद के तत्त्व

श्री सुव्रत मुनि शास्त्री

जैन दर्शन का सर्वाधिक विशिष्ट सिद्धान्त 'अनेकान्तवाद' है। 'अनेकान्तवाद' शब्द तीन शब्दों के मेल से बना हुआ संयुक्त शब्द है। वे तीन शब्द हैं—अनेक + अन्त + वाद। 'अनेकान्तवाद' शब्द का अर्थ इन तीनों शब्दों के अनुरूप ही है। अनेक का सीधा-सा अर्थ है—एक न होकर बहुत, अन्त का अर्थ है—धर्म अथवा गुण और वाद का अर्थ यहां पर कथन है।

जैन दर्शन के मन्तव्य के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मों का पुञ्ज है; असंख्य गुणों का समूह है। इसीलिए उस सिद्धान्त को अनेकान्तवाद कहा जाता है, जिसमें वस्तु के किसी एक धर्म का नहीं, अपितु वस्तुगत समस्त धर्मों का समादर किया जाता है। एक मनीषी आचार्य ने अनेकान्तवाद का स्वरूप बताते हुए कहा है **अनन्तधर्मात्मकं वस्तु**। तत्त्व क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है कि—**अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्**।

वस्तु अपने आप में अनन्त है, पर उसके समग्र रूप को कभी एक साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता। 'अनेकान्तवाद' वस्तुतः 'वाद' अर्थात् विवाद नहीं है, वह तो एक प्रकार का संवाद है। अतः अनेकान्त के साथ प्रचलित अर्थ में 'वाद' न लगाकर 'दृष्टि' लगाना ही अधिक उपयुक्त है। अनेकान्त-दृष्टि, वह दृष्टि है जिसमें किसी एक ही धर्म और गुण को नहीं पकड़ा जाता, बल्कि एक को प्रधानता दी जाती है। जब एक को प्रधानता दी जाती है तो यह स्वाभाविक है कि शेष को गौणता प्राप्त हो जाती है। गौण-प्रधान-भाव से वस्तु का कथन करना यही अनेकान्त-दृष्टि अथवा अनेकान्तवाद कहा जाता है। जैसा कि पहले बताया गया है—'वाद' का अर्थ है—कथन करना।

भगवान् महावीर ने जो कुछ कहा था वह उनके कहने से अनेकान्तमय नहीं हुआ, लेकिन पदार्थों की जैसी स्थिति थी, वैसा ही उनका कथन था। यथार्थ का ज्ञाता एवं द्रष्टा ही यथार्थ-भाषी होता है; अन्यथा-भाषी नहीं।

अनेकान्त-दृष्टि अथवा अनेकान्तवाद, क्या जैन परम्परा का ही एकमात्र सिद्धान्त है? क्या वैदिक परम्परा में और बौद्ध परम्परा में इस प्रकार के विचार उपलब्ध नहीं हैं? निश्चय ही वहां पर भी इस प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। वैदिक-परम्परा का आदि-ग्रन्थ 'ऋग्वेद' माना जाता है, बल्कि विश्व की समस्त पुस्तकों में उसे प्रथम पुस्तक माना जाए तो भी अनुचित नहीं होगा। ऋग्वेद में इस प्रकार के विचारों के सूक्ष्म बीज यत्र-तत्र बिखरे हुए उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा है—**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**। सत्य एक ही है, किन्तु विद्वान् लोग उसका कथन अनेक प्रकार से करते हैं। मुण्डकोपनिषद् में एक शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया, "वह कौन-सी वस्तु है, जिसके ज्ञान से वस्तुमात्र का ज्ञान हो जाता है?" इसके उत्तर में गुरु ने कहा था—**एकेन मूर्त्पण्डेन विज्ञातेन मृण्मेयं विज्ञातं स्यात् मिट्टी के एक ढेले को जान लेने पर सारी मिट्टी का ज्ञान हो जाता है**। इसी प्रकार का प्रश्न छान्दोग्योपनिषद् में पूछा गया है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि उपनिषद् काल के ऋषियों ने भी इस अनेकान्त पर अवश्यमेव विचार किया होगा।

बौद्ध-परम्परा में अनेकान्तवाद और अनेकान्त-दृष्टि जैसे शब्दों का प्रयोग तो नहीं है; हां, जैन-परम्परा के स्याद्वाद से मिलता-जुलता एक शब्द बौद्ध-परम्परा के साहित्य में उपलब्ध होता है—'विभज्यवाद'। विभज्यवाद का प्रयोग सुप्रसिद्ध जैन अङ्ग-सूत्र 'सूयगड' में भी किया गया है—**विभज्यवायं च वियागरेज्जा**। विभज्यवाद का सामान्य अर्थ है—विभाग करके कथन करना। बुद्ध जब किसी भी तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, तब वे सापेक्षतावाद को ध्यान में रखकर ही कथन करते थे। बौद्ध परम्परा का मध्यम मार्ग एक प्रकार से जैन परम्परा के स्याद्वाद और अनेकान्तवाद का ही एक प्रतीक है। जैन दर्शन जिस प्रकार जगत् को सत् एवं असत् कहता है, उसी प्रकार माध्यमिक बौद्ध भी कहता है। अस्ति और नास्ति ये दोनों अन्त हैं; शुद्धि और अशुद्धि ये दोनों भी अन्त हैं। तत्त्वज्ञानी इन दोनों अन्तों को त्यागकर मध्य में स्थित होता है। समाधिराज-सूत्र में कहा गया है—

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ताः
शुद्धि-अशुद्धि इमेऽपि अन्ताः।
तस्माद् उभे अन्त विवर्जयित्वा,
मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः ॥

इस प्रकार बौद्ध-परम्परा को भी अनेकान्तवाद, किसी न किसी रूप में अभिमत रहा है।

यूनान देश के महान् विचारक एवं दार्शनिक सुकरात, अफलातूँ और अरस्तू ने भी अपने विचारों के प्रतिपादन में ज्ञातभाव अथवा अज्ञातभाव से अनेकान्त का कथन किया ही है। सुकरात को अपने ज्ञान की अपूर्णता का, उसकी अल्पता का पूरा परिज्ञान था। इस मर्यादा के भान को ही उसने ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता कहा है। वह कहा करता था कि—“मैं ज्ञानी हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञ हूँ। दूसरे लोग ज्ञानी नहीं हैं। क्योंकि वे यह नहीं जानते हैं कि वे अज्ञ हैं”। सुकरात के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि उसका कथन अनेकान्तवाद के अनुरूप है। सुकरात के शिष्य प्लेटो ने कहा था कि हम लोग सागर के किनारे खेलने वाले उन बच्चों के समान हैं जो अपनी सीपियों से सागर के अथाह जल को नापना चाहते हैं। सत्य यह है कि हम सीपियों में पानी भर-भरकर कभी उसे खाली नहीं कर सकते। फिर भी अपनी छोटी-छोटी सीपियों में जो पानी इकट्ठा करना चाहते हैं, वह उस महासागर का ही एक अंश है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं रह जाता। अफलातूँ का यह कथन स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के अत्यन्त निकट है।

अरस्तू कहा करता था कि एक ओर अत्याचार है और दूसरी ओर अनाचार है। उन दोनों के बीच में जो कुछ है वही सदाचार है। क्योंकि अत्याचार और अनाचार दोनों पापरूप हैं। धर्म तो एकमात्र सदाचार है, जो दोनों के मध्य स्थित है, जो मध्य में स्थित होता है वही वस्तुतः धर्म होता है। अरस्तू के इस कथन में अनेकान्त स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। भले ही उसका कथन अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद शब्दों में न किया गया हो।

जर्मनी का महान् दार्शनिक ‘हिगेल’ अपने युग का एक महान् विचारक था और समन्वयवादी विचारक था। दर्शनशास्त्र में इसके युग से पूर्व जो कुछ लिखा गया था और स्वयं उसके युग के अन्य दार्शनिकों ने जो कहा था, उसमें जहाँ-जहाँ विसंगति रह गई थी, हिगेल ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसकी संगति और समन्वय में लगा दी थी। उनका कथन सापेक्षता को लेकर होता था। वर्तमान युग में भारत में समन्वयवादी विचारधारा को आगे बढ़ाने में स्वामी विवेकानन्द जी ने महत्वपूर्ण कार्य किया था। भारतीय दर्शनों में स्वामी जी ने जो एक निकट का समन्वय देखा था, उसी का प्रतिपादन उन्होंने यूरोप में जाकर किया था। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द जी ने वही कार्य किया जो कार्य परम्परा से जैन-आचार्य करते आ रहे थे। इस प्रकार देखा जाता है कि अनेकान्तवाद सर्वत्र व्याप्त है। उसे अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद इन शब्दों से अभिहित किया जाए अथवा न किया जाए, पर भारत के समग्र दर्शनों में और पाश्चात्य दर्शनों में भी यत्र-तत्र किसी-न-किसी रूप में उसे स्वीकार किया ही गया है। सत्य से कभी इन्कार नहीं किया जा सकता।

जैन परम्परा के दार्शनिकों में अनेकान्तवाद का प्रतिपादन तार्किक शैली से प्रस्तुत करने वाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर रहे हैं। उन्होंने अपने ‘सन्मत्तिसूत्र’ नामक ग्रन्थ में अनेकान्त-दृष्टि पर व्यापक रूप से विचार किया है। आचार्य समन्तभद्र जी ने अपने ‘आप्तमीमांसा’ ग्रन्थ में स्याद्वाद का प्रतिपादन तार्किक शैली में किया है। वैसे तो जैन-परम्परा के प्रत्येक दार्शनिक ने कम या अधिक रूप में अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के सम्बन्ध में कुछ न कुछ लिखा ही है किन्तु उक्त दोनों आचार्यों ने तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के स्थापन में ही लगा दी थी।

कुछ विद्वान् अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को एक-दूसरे का पर्यायवाची समझ लेते हैं। परन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि अनेकान्त एक वस्तुपरक दृष्टि है, एक वस्तु सम्बन्धी विचार है, वस्तु के सम्बन्ध में सोचने की एक पद्धति है। स्याद्वाद का अर्थ है—वस्तु का विभिन्न गुण-कर्मों की अपेक्षा विशेष से कथन करना। अनेकान्त दृष्टि को जिस भाषा और जिस पद्धति से अभिव्यक्त किया जाता है; वास्तव में उसे ही स्याद्वाद कहा जाता है।

प्राचीन युग में भारतीय दर्शनों में अनेक वाद-विवाद, प्रदिवाद दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ वाद होता है वहाँ प्रतिवाद अवश्य ही होगा और जहाँ प्रतिवाद होता है वहाँ संघर्ष अवश्य होगा ही। इस स्थिति में संघर्ष को टालने के लिए अथवा वाद-विवाद की कटुता को मिटाने के लिए किसी ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता थी, जो उनमें समन्वय स्थापित कर सके। उस युग की इस मांग को अनेकान्तवाद ने पूरा किया था। यद्यपि अनेकान्त का खण्डन जैन-परम्परा को छोड़कर अन्य सभी परम्परा के विद्वानों ने किया था, तथापि उसे किसी न किसी रूप में स्वीकार भी अवश्य किया गया। जैसे वेदान्त-दर्शन एकान्त-नित्यवादी दर्शन रहा है और बौद्ध-दर्शन एकान्त-क्षणिकवादी दर्शन रहा है। सत् क्या है? इसके उत्तर में वेदान्त कहता है कि वह एक है और नित्य है। बौद्ध-दर्शन कहता है—सत् अनेक हैं और वे सब क्षणिक हैं। इस प्रकार भारत में दोनों प्रसिद्ध दार्शनिक-पक्ष एक-दूसरे के विरोध में खड़े थे। यह कहना होगा कि सांख्य ने सत्य को एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य न मानकर परिणामी-नित्य कहा था। इसका अर्थ यह है कि परिणामवाद ने कुछ सीमा तक उस कटुता को दूर करने का प्रयत्न अवश्य किया था, परन्तु पूर्णतः नहीं। क्योंकि सांख्य ने अपने अभिमत पञ्चस तत्त्वों में से एक पुरुष को कटस्थ नित्य माना है। उसने एकमात्र प्रकृति को ही परिणामी माना है। चेतन को परिणामी नहीं माना। समस्या का समाधान होकर भी नहीं हो सका। वाद-प्रतिवाद की परम्परा का क्रम चलता रहा, उसका अन्त न हुआ।

अनेकान्त-दृष्टि में और स्याद्वाद में समग्रवाद एवं प्रतिवाद दूर हो जाता है। अनेकान्तवाद की व्यवस्था ही इस प्रकार की है कि उसमें किसी भी प्रकार के वाद-विवाद को स्थान रहता ही नहीं। जैन-दार्शनिकों से यह पूछा गया कि आपके यहां सत्य अनित्य है अथवा नित्य। तब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—नित्य भी और अनित्य भी। कैसे और क्यों? इस दार्शनिक सनातन प्रश्न का समाधान उन्होंने दो दृष्टियों से किया—द्रव्य-दृष्टि से और पर्याय-दृष्टि से।

द्रव्य-दृष्टि से जगत् की प्रत्येक वस्तु नित्य है और पर्याय-दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु अनित्य है। जैन-दार्शनिकों ने कहा सत् भी सत्य है और असत् भी सत्य है। दोनों में दृष्टि का भेद है। दोनों में दृष्टि का अन्तर है। क्या घर में रहने वाला एक व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता नहीं हो सकता? पितृत्व और पुत्रत्व में विरोध प्रतीत होने पर भी विरोध नहीं है, क्योंकि दृष्टि भिन्न-भिन्न है। तब फिर जगत् की एक ही वस्तु नित्य भी और अनित्य भी क्यों नहीं हो सकती? उसमें भी किसी प्रकार का विरोध दृष्टि-गोचर नहीं होता, क्योंकि दोनों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में जो परिवर्तन परिलक्षित होता है, वह पर्याय की अपेक्षा से है। उसकी सत्ता का कभी लोप नहीं होता—यह द्रव्य की अपेक्षा से उचित है। क्या एक ही व्यक्ति बालक, तरुण और वृद्ध नहीं हो सकता। फिर भी यह सत्य है कि तीनों अवस्थाओं में परिवर्तन आता है इसे झुठलाया नहीं जा सकता। यह भी सत्य है कि तीनों अवस्थाओं में व्यक्ति एक ही है, भिन्न नहीं। जैन-दर्शन की यही अनेकान्त-दृष्टि है और यही अनेकान्त-तत्त्व या वाद है।

□ 'नासदासीन्न सदासीत्तदानीम् ।', ऋग्वेद, १०/१२६/१

'यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं विलक्षणं भवति तथापि भावाभावयोः सहवस्थानमपि संभवति ।', उपर्युक्त पर सायण-भाष्य

□ 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके ।' ईशोपनिषत्, ५

'अणोरणीयान् महतो महीयान् ।' कठोपनिषत्, २/२०

'सदसच्चामृतं च यत् ।' प्रश्नोपनिषत्, २/५

'अस्तीति काश्यपो अयं एकोऽन्तः नास्तीति काश्यपो अयं एकोऽन्तः यदनयोर्द्वयोः अन्तयोर्मध्यं तदरूप्यं अनिदर्शनं अप्रतिष्ठं अनाभासं अनिकेतं अविज्ञप्तिकं यमुच्यते काश्यपः मध्यमप्रतिपदधर्माणां ।', काश्यपपरिवर्तन, महायान सूत्र

□ 'विरोधस्तावदेकान्ताद्वक्तुमत्र न युज्यते ।', मीमांसाश्लोकवार्तिक

'...तस्मात् प्रमाणबलेन भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम् । ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र स्याताम् । न विरोधः, सह दर्शनात् । यदि हि 'इदं रजतम्, नेदं रजतम्' इतिवत् परोस्परोपमर्देनभेदाभेदौ प्रतीयेयाताम् ततो विरुद्धयेयाताम् न तु तयोः परोस्परोपमर्देन प्रतीतिः । इयं गौरिति बुद्धिद्वयम् अपर्यायेण प्रतिभासमानमेकं वस्तुद्वयात्मकं व्यवस्थापयति समानाधिकरण्यं हि अभेदमापादयति अपर्यायत्वं च भेदम्, अतः प्रतीति बलादविरोधः । अपेक्षाभेदाच्च, ... एवं धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मन्तररूपेण रूपादिभ्यो भेदः द्रव्यरूपेण चाभेदः...', शास्त्रदीपिका

□ इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्पितं गुणैः ।

सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन् ।

योगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥

प्रत्यक्षं भिन्नमात्रंशे मेयांशो तद्विलक्षणम् ।

गुरुज्ञानं वदन्नेकं नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥

जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचिम् ।

भट्टो वापि मुरारिर्वा नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥

अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः ।

ब्रूवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥

ब्रूवाणा भिन्नाभिन्नार्थान्नयभेदव्यपेक्षया ।

प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम् ॥', अध्यात्मसार, ४५-५१

—सम्पादक